RNI No. 26281/74 रजि. नं. पी.बी./जे.एल.-011/2021-23

ओ३म्

साप्ताहिक

आर्य मर्यादा

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रमुख पत्र

200 वीं महर्षि दयानन्द सरस्वती जयन्ती 1824-2024

वर्ष: 50, अंक : 5 एक प्रति : 2 रुपये
कुल पृष्ठ : 8
रविवार 30 अप्रैल , 2023
विक्रमी सम्वत् 2080, सृष्टि सम्वत् 1960853124
दयानन्दाब्द : 199 वार्षिक शुल्क : 100 रुपये
आजीवन शुल्क : 1000 रुपये
दूरभाष : 0181-2292926, 5062726
E-mail: apspunjab2010@gmail.com,
www.aryapratinidhisabha.org

वर्ष–50, अंक : 5, 27-30 अप्रैल 2023 तदनुसार 17 वैसाख , सम्वत् 2080 मूल्य 2 रु०, वार्षिक 100 रु० आजीवन 1000 रु०

ईश्वर का स्वरूप एक ही है

ले०-आचार्य ज्ञानेश्वरार्य

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः,
अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

अथर्व. ८-८०-२८

शब्दार्थ-उस ईश्वर को, **इन्द्रम्** = ऐश्वर्ययुक्त, **मित्रम्** = सखा, **वरुणम्** = श्रेष्ठ, **अग्निम्** = सर्वव्यापक, **भी आहुः** = कहते हैं। **अथ** = और वही परमेश्वर, **दिव्यः** = ज्ञानी, **सुपर्णः** = पालन करने वाला, **गरुत्मान्** = परमात्मा नाम से पुकारा जाता है। **एकम्** = वह ईश्वर जो एक ही, **सत्** = है उसे, **विप्रा** = विद्वान् लोग, **बहुधा** = अनेक नामों से बोलते हैं, **अग्निम्** = आगे ले जाने वाला, **यमम्** = नियंत्रण करने वाला, **मातरिश्वानम्** = सबका आधार शब्दों से भी बुलाया जाता है।

भावार्थ-आजकल विश्व के धार्मिक आध्यात्मिक क्षेत्र में एक बड़ा आश्चर्य है। वह यह है कि सभी मत-पंथ सम्प्रदाय गुरुडम वाले इस बात को तो स्वीकार करते हैं कि इस धरती, चन्द्रमा, सूर्य आदि ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रों की रचना करने वाला, मनुष्य, पक्षी, कीट आदि विभिन्न शरीरों को बनाने वाला, अन्न, शाक, कन्द, मूल, वृक्ष, वनस्पति, औषधि आदि खाद्यान्नों को बनाने वाला ईश्वर एक ही है किन्तु सच्चा ईश्वर वो है जिसे हम मानते हैं, दूसरे मत वाले जिसे मानते हैं वह नहीं है। उन सबकी यह मान्यता अपने गुरुओं, आचार्यों, मुल्लाओं, मौलवियों, पादरियों, संन्यासियों के प्रवचनों या फिर उनकी अपनी अपनी धार्मिक पुस्तकों के आधार पर बनी हुई है।

होश सम्भालते ही बच्चे के माता-पिता, गुरु अपने-अपने धर्म ग्रन्थों के आधार पर बताते हैं कि हमारा ईश्वर का नाम यह है तथा उसका रंग, रूप, आकार, बल, गुण-कर्म स्वभाव ऐसे हैं, उसकी इस विधि से, इस समय, इतनी बार, इस स्थान पर उपासना करनी है। वह बच्चा उसी सिखाई हुई परम्परा के अनुसार ही ईश्वर की उपासना करता है, अपने को ठीक मानता है, अन्यों को गलत मानता है।

मनुष्यों के भिन्न देशों, भिन्न मतों, भिन्न सम्प्रदायों, भिन्न जाति, भिन्न गुरु परम्परा में जन्म लेने के कारण उनके ईश्वर भी भिन्न हो गये हैं, आध्यात्मिक धार्मिक क्षेत्र में ऐसी स्थिति का बनना अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। क्योंकि इन्हीं भिन्न-भिन्न और संकुचित मान्यताओं के कारण न केवल मनुष्य समाज में अलगाव हुआ अपितु वैर, विरोध, निन्दा, चुगली बढ़ी। विश्व का इतिहास पढ़ने पर पता चलता है कि पिछले हजारों वर्षों में ईश्वर के नाम पर शैवों-वैष्णवों, यहूदियों-ईसाईयों, हिन्दुओं-मुसलमानों आदि भिन्न भिन्न ईश्वर को मानने वाले मत-पंथों के अनुयायियों में परस्पर भयंकर युद्ध हुए, रक्तपात हुआ।

वेद कहता है कि हे मनुष्यो! ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनेक होने के कारण ईश्वर के नाम तो अनेक हैं किन्तु वह एक ही स्वरूप वाला है, भिन्न भिन्न स्वरूप वाला नहीं। जैसे एक व्यक्ति को कोई बेटा कहता है, तो कोई पिता। वही व्यक्ति किसी का मामा तो किसी का चाचा, किसी का साला है तो किसी का बहनोई। कोई उसे मित्र कहकर बुलाता है तो कोई स्वामी कहकर बुलाता है। व्यक्ति एक ही है किन्तु उस एक ही व्यक्ति के अनेक नाम हैं।

ठीक ऐसे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बनाने वाला, पालन करने वाला, विनाश करने वाला, कर्मों का फल देने वाला ईश्वर एक ही है। किन्तु वह ऐश्वर्य वाला होने से इन्द्र कहलाता है, सबका हित करने वाला होने से मित्र कहा जाता है, सबको प्राप्त करने योग्य होने से उसका नाम वरुण है और सबको आगे, ऊपर ले जाने वाला होने से वह अग्नि वाचक है। वही ईश्वर महान ज्ञानवान होने से दिव्य कहलाता है और सबका उत्तम रूप से पालन पोषण करने से सुपुर्ण कहलाता है। वह सबसे महान् होने के कारण उसका नाम गुरुत्मान् है। सबका नियंत्रक, संचालक, फलदाता होने से यम कहा जाता है वही निराकार वायु के समान सर्वव्यापक सर्वाधार होने से मातरिश्वा नाम से बुलाया जाता है।

वेदों में ईश्वर का अनेक नामों से वर्णन होने के कारण अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों ने उसके रंग-रूप-आकार भी भिन्न भिन्न बनाकर खड़े कर दिये। वैदिक ईश्वर के विषय में सिद्धान्त यही है कि "नाम अनेक हैं पर स्वरूप एक है।" विवेकी, ज्ञानी व्यक्तियों ने उस एक ईश्वर को ही अलग-अलग नामों से पुकारा किन्तु अविवेकी, अज्ञानी मनुष्यों ने उस एक ही ईश्वर को अनेक नामों के कारण भिन्न-भिन्न स्वरूप वाला समझ लिया और अनेक रूप बनाकर, अनेक ईश्वर (शेष पृष्ठ 5 पर)

वेद ही योग का मूल उद्गम

ले.-डा. सत्यदेव सिंह मथुरा

सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य वेदोक्त योगविधि से परमपिता परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना व उपासना करता आया है। अपने समय में स्वामी दयानन्द सरस्वती भी ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को योगाभ्यासी बनने की प्रेरणा दिया करते थे। वर्तमान काल में वेदों के सत्य-सन्देश के प्रचार-प्रसार की कमी के कारण योग के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हो रही हैं। ऐसी ही एक भ्रान्ति बेल्जियम देश के निवासी लेखक 'कॉनरेड एल्स्ट' (Koenroad-Elst) के द्वारा प्रसारित हुई है, जो इस प्रकार है-Arround the middle of the first millennium BCE- "means that yoga does not predate the age of the Buddha. Anything of value should be denied to Hinduism, and if it exists, it has to be borrowed from another religion, viz, Buddhism. In reality, the Buddha himself already learned at the feet of several yoga teachers, who in turn did not claim to be innovative."

(Ref.-http://koenraadelst.blogspot.com/.../yoga-in...)

अर्थात् ईसा से एक शताब्दी पूर्व तक महात्मा बुद्ध के काल से पहले योग का प्रचार नहीं था, जो भी योग के बारे में उपलब्ध था, वह सब भारतीयों (हिन्दुओं) ने महात्मा बुद्ध से ग्रहण किया। बुद्ध ने अनेक योगियों के चरणों में बैठकर योग सीखा, जो यह कभी नहीं कहते थे कि योग उनका आविष्कार है।

प्रायः यह देखा जाता है कि विदेशी लेखक संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होता है, इस कारण वह पाश्चात्य अंग्रेजी पुस्तकों पर निर्भर करता है और अंग्रेजी पुस्तकों के तथ्य प्राच्य-विद्या से कोसों दूर होते हैं और तथाकथित योगविद्या के नवबौद्ध पाश्चात्य पुस्तकों के गुणगान करते हैं। यह सर्वथा मिथ्या कथन व भ्रान्ति दायक है।

'एल्स्ट' महोदय के उपर्युक्त कथन पर विचार करते हैं, तो पता चलता है कि वे तो योग रूपी विशाल वट-वृक्ष के मात्र पत्ते ही गिनते रह गये, क्योंकि योग रूपी विशाल वृक्ष की मूल (जड़) जो वेदों में निहित है-उसे पहचान ही नहीं पाये। महर्षि Î Ø×èÎ â ÚUÞÌ è· ðÂ¥ Ù×ê ÚUÞÌ 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।' अन्य समस्त विद्याओं की भाँति ही **'योग'** का उद्गम भी ईश्वरीय वाणी वेद में देखा जा सकता है। अब हम आगे की पंक्तियों में वैदिक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। देखिये अग्रांकित यजुर्वेद के कतपिय मन्त्रों को, जो इस प्रकार हैं-

''युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।

अग्ने ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्।।(यजुर्वेद-११/१)

अर्थात् जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भविद्या किया चाहे, वह यम आदि योग के अंग और क्रिया-कौशलों से अपने हृदय को शुद्ध करके तत्वों को जानकर, बुद्धि को प्राप्त और इन को गुण, कर्म तथा स्वभाव से जान के उपयोग लेवे।

''युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।

स्वर्ग्याय शक्त्या।''(यजुर्वेद-११/२)

अर्थात् जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्त्वविद्या को यथाशक्ति सेवन करें, उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त होकर और पदार्थविद्या का अभ्यास करें, तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें।

''युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्।।

(यजुर्वेद ११/३)

अर्थात् जो पुरुष योग और पदार्थविद्या का अभ्यास करते हैं, वे अविद्या आदि क्लेशों को हटाने वाले शुद्ध गुणों को प्रकट कर सकते हैं। जो उपदेशक पुरुष से योग और तत्वज्ञान को प्राप्त हो के ऐसा अभ्यास करें, वह भी इन गुणों को प्राप्त होवे।

''युजे वां ब्रह्मपूर्व्य नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।

शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।।'') (यजुर्वेद ११/५)

अर्थात् योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का संग करें। उनके संग से योग की विधि को जानकर के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। इस प्रकार से वेद में अनेक मन्त्र 'योग' विषय पर प्रकार डालते हैं।

महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित अष्टांग योग के आठ अंग ब्रह्मरूपी शिखर पर चढ़ने के लिए आठ सीढ़ियाँ हैं। उनका मूल भी वेद ही है। उनके नाम हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग विद्या का प्रादुर्भाव भी वेदों से हुआ है, इसके कुछ प्रमाण देखिए-

योग योगे तवस्तरं वाजे हवामहे।

सखायऽइन्द्रमूतये।।''(यजु० ११/१४)

अर्थात् बार-बार योगाभ्यास करते हुये एवं बार-बार मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाते हुये हम सब परस्पर मित्रभाव से युक्त होकर अपनी रक्षा के लिये अनन्त बलवान, ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ध्यान करते हैं। उसी से सब प्रकार की सहायता मांगते हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि **'योग' का उद्भव वेद ही** है। अब योग के आठ अंगों के विषय में वैदिक प्रमाणों पर विचार करते हैं, जो इस प्रकार हैं-

१. 'यम' पाँच हैं-

(१) **अहिंसा**-अहिंसा का अर्थ केवल किसी की हत्या न करना ही नहीं, अपितु मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से कष्ट न देना, किसी को हानि न पहुँचाना और किसी के प्रति वैरभाव न रखना 'अहिंसा' है, जो इस प्रकार हैं-

वेद अनेकत्र अहिंसा का सन्देश देते हैं-**''मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे''** (यजुर्वेद ३६/१८) अर्थात् हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें।

(२) **सत्य**-सत्य द्वितीय यम है। साधक मन, वचन और कर्म से सत्य जाने, सत्य माने, सत्य बोले और सत्य ही लिखे, मिथ्या, असत्य न बोले, न मिथ्या व्यवहार ही करे। वेद सत्य के विषय में कहते हैं-**इदं अहमनृतात्सत्यमुपैमि'। (यजु० १/५)** अर्थात् मैं असत्य को त्याग कर जीवन में सत्य को ग्रहण करता हूँ।

(३) **अस्तेय**-यमों में तीसरा यम है-**अस्तेय।** स्तेय का अर्थ है-चोरी करना। अस्तेय का अर्थ है-मन, वचन और कर्म से चोरी न करना। साधक चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे। स्वामी की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ का उपयोग न करे। वेद **'अस्तेय'** की शिक्षा देते हुए कहते हैं **''मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।''(यजु० ४०/१)** अर्थात् किसी के धन का लालच मत कर।

(४) **ब्रह्मचर्य**-ब्रह्मचर्य दो शब्दों के मेल से बना है-ब्रह्म और चर्य। ब्रह्म का अर्थ है ईश्वर, वेद, ज्ञान और वीर्य। चर्य का अर्थ है चिन्तन, अध्ययन, उपार्जन और रक्षण। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ होगा-साधक ईश्वर का चिन्तन करे, ब्रह्म में विचरे, वेद का अध्ययन करे, ज्ञान का उपार्जन करे और वीर्य का रक्षण करे। वेद कहते हैं-**'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' (अथर्व० ११/५/१९)** अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा विद्वान मौत को भी मार भगाते हैं।

(५) **अपरिग्रह**-अपरिग्रह का अर्थ है-आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह न करना। साधक उतने ही पदार्थों का संग्रह करे जितने सादा जीवन के लिए आवश्यक हैं। किसी भी वस्तु को क्रय करने से पहले गम्भीरतापूर्वक सोच लें। यदि उनके बिना काम न चलता हो तभी खरीदो। वेद अपरिग्रह का सन्देश देते हुए कहते हैं **''कि-शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।'' (अथर्व ३/२४/५)** अर्थात् सौ

(शेष पृष्ठ 7 पर)

सम्पादकीय

सबके पास है अद्भुत शक्ति का केन्द्र मन

मन एक अद्भुत तथा विलक्षण शक्ति का केन्द्र है। मन की शक्ति के बिना शारीरिक शक्ति किसी ठोस तथा भारी कार्य करने के अवसर उपस्थित होने पर हतोत्साह होकर बैठ जाती है। मन की शक्ति के द्वारा मनुष्य उत्साह से पूर्ण होकर कार्य करता है और सफलता को प्राप्त करता है। अतः गीता में कहा गया है-

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मानव के बन्धन या मुक्ति की भावना सर्वथा मन पर ही आश्रित होती है। इधर वेद भी पुकार-पुकार कर कह रहा है-**तन्मे मनः शिवंसकल्पमस्तु।** हे भगवन्, मेरे मन के संकल्प सदा ही मंगलमय तथा शुभ रूप हों। संस्कृत साहित्य के हर्षचरित में महाराज हर्षवर्धन कहते हैं विजेता वही हो सकता है जो समुद्र को नदी, नदी को नहर तथा हिमालय को एक छोटी सी पर्वत श्रेणी की तरह सुगम तथा लंघनीय समझे। कबीर जी कहते हैं-

मन के हारे हार है मन के जीते जीत अर्थात् मनुष्य की हार और जीत मन के कारण तय होती है। मन के द्वारा मनुष्य सफलता की बुलन्दियों को छू सकता है तो उसी प्रकार मन की दुर्बलता के कारण पतन की ओर अग्रसर होता है। मनुष्य अपने दृढ़ संकल्पों के द्वारा मृत्यु पर भी विजय पा सकता है।

आयुर्वेद के महान् ज्ञाता चरक दो प्रकार की व्याधि मानते हैं, शारीरिक तथा मानसिक-

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।।

मिथ्या आहार विहार से जिस प्रकार शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार विविध मानसिक कारणों से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। दुर्बल मन के रोगी छोटी सी शल्य क्रिया में ही अधीर हो बैठते हैं। प्राकृतिक दुर्बलता के अतिरिक्त आजकल की तीव्रगति सापेक्ष यात्राओं में विविध प्रकार की दुर्घटनाओं से तथा अन्य नशीले मादक पदार्थों के सेवन से भी विविध प्रकार की मानसिक दुर्बलताएं उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे बलवान् वात-तन्तु भी धीरे-धीरे दुर्बल हो जाते हैं। ये असावधानियां तथा व्यसन मन को दुर्बल करके तरह-तरह के मानसिक रोग उत्पन्न कर देते हैं। वियोग, शोक, चिन्ता, क्षोभ, कलह, वैमनस्य, अतिपरिश्रम, दीर्घकालीन महारोग, असफलता, धन-हानि, आदि से भी मन रूग्ण हो जाता है।

प्रकृति के विचार से मन मुख्य रूपेण तीन प्रकार का माना गया है, सत्वः प्रधान, रजः प्रधान, तमः प्रधान। यह सर्वथा सत्य है कि प्रत्येक मन युग-युगान्तरों से संस्कार लेकर संसार में आता है। सत्वगुण प्रधान मन जितात्मा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या से शून्य, स्वाध्यायशील, कर्त्तव्यपरायण, इत्यादि गुणों वाला होकर, जीवन की प्रत्येक उच्चता के सोपान की ओर बढ़ने वाला, लक्ष्य तथा उच्च संकल्पों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। रजः प्रधान मन उच्च लक्ष्य का इच्छुक परन्तु स्वार्थ पर, कामादि की प्रेरणा से कभी-कभी विचलित होने वाला, स्वार्थ-वृत्ति तथा ऐश्वर्यभोगी होता है। परन्तु तामस मन अत्यन्त स्वार्थ साधक, नीच वृत्ति, नीच कर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य भावना से सर्वथा शून्य तथा प्रत्येक कार्य में सर्वथा स्वार्थी होता है। मन के थोड़े अंश में विकृत हो जाने पर मानव सर्वथा पथ भ्रष्ट हो जाता है। कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य में भेद नहीं समझ सकता। अधिक विकृत हो जाने पर रोगी का जीवन ही भारभूत बन जाता है। वह स्वयं कभी-कभी इतना उद्विग्न हो जाता है कि वह संसार में बन्धु-बान्धवों से, इष्ट मित्रों से तथा उनके सम्पर्क में आने वाले सभी सज्जनों से निज सम्बन्ध तोड़कर सर्वथा एकांकी होकर संसार से मानो रूठ कर बैठ जाता है। कभी कभी वह एकान्तप्रिय बन जाता है और कभी-कभी अपने जीवन को अन्धकारमय समझ कर आत्महत्या का विचार भी करने लगता है। देखिए मन की दुर्बलता मनुष्य को कहां से कहां ले जाती है।

मनुष्य के पास सभी प्रकार के सुख के साधनों के होने पर भी मन की विकृति के कारण सदा ही अप्रसन्न, असन्तुष्ट, तथा अशान्त होकर भटकता रहता है। मन की विकृति मानव की चेष्टाओं में भी विचित्र परिवर्तन कर देती है। कुछ विचारक सत्त्व अर्थात् धैर्य को मन का गुण मानकर मन को मुख्यतः तीन प्रकारों में विभक्त करते हैं, प्रवरसत्त्व, मध्यम सत्त्व तथा हीन सत्त्व। प्रवरसत्त्व वे हैं जो संपत्ति तथा विपत्ति को एक समान समझते हैं। न वे संपत्ति में परम उद्धत तथा अतिगर्वित हो उठते हैं और न विपत्ति में दीन-हीन होते हैं। हीन सत्त्व संपत्ति में तो आकाश पाताल एक कर देते हैं और अभिमान में आकर दूसरों का निरादर कर देते हैं परन्तु जरा सी विपत्ति आने पर दुखी हो उठते हैं और आत्महत्या करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

भारतीय चिकित्सक शिरोमणि चरक जिनके विषय में बहुत से पाश्चात्य वैज्ञानिक कहते हैं कि इन जैसा प्रयोगवादी चिकित्सक संसार भर में नहीं हुआ है, वे लिखते हैं कि काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, मान शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष ये मनोविकार हैं, जो व्यक्ति इनको जीत ले, वह मृत्यु को भी जीत सकता है। मन की दुर्बलता के कारण व्यक्ति इन विकारों से ग्रसित होता है। अभ्यास के द्वारा ही मनुष्य इन विकारों पर नियन्त्रण कर सकता है। गीता में भी श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि-

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

अर्थात् लगातार अभ्यास करने से तथा वैराग्य की भावनाओं द्वारा इस मन को संसारिक बन्धनों से मुक्त करके अपने वश में किया जा सकता है। अभ्यास तथा वैराग्य की अतुल शक्ति का अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। संक्षेप में मन की दुर्बलता से बचने के लिए मनरूपी घोड़ों को अदम्य आत्मशक्ति द्वारा पूरे नियन्त्रण में रखो। इस मनरूपी घोड़े का दमन बड़ी भारी आध्यात्मिक विजय है। मन को नियन्त्रण में रखने से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रख सकता है। मन की दुर्बलता के कारण ही इन्द्रियां विषयों की ओर उन्मुख होती हैं। शिवसंकल्प सूक्त के छः मन्त्रों में मन के इसी स्वरूप का वर्णन किया गया है कि जो मन जागते हुए दूर-दूर तक जाता है वहीं मन सोते हुए भी कल्पना के सागर में खो जाता है। प्रकाश से भी अधिक इस गतिशील इस मन को मनुष्य अपने विवेक से तथा दृढ़ संकल्पों से वश में कर सकता है। जिस मन के द्वारा सत्कर्मनिष्ठ ध्यान करने वाले बुद्धिमान लोग इष्टकर्मों को करते हैं, जो बुद्धि का उत्पादक और स्मृति का साधन, धैर्यस्वरूप है और मनुष्यों के भीतर नाशरहित प्रकाशस्वरूप है, जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जाता, इस प्रकार के मन को मनुष्य वैसे वश में कर सकता है जैसे अच्छा सारथि घोड़ों को लगाम के द्वारा इधर-उधर ले जाता है। मनुष्य को अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए मन की साधना करना अत्यन्त आवश्यक है। जो मनुष्य अपने मन को जीत लेता है, मन के उपर अपना अधिकार कर लेता है वह संसार में कठिन से कठिन परिस्थितियों का भी समाधान निकाल लेता है और जिस मनुष्य का अपने मन के उपर अधिकार नहीं होता वह विपत्तियों के आने पर घबरा जाता है और मन की दुर्बलता के कारण आत्महत्या करने के लिए तैयार हो जाता है। इसलिए हमें इन शिवसंकल्प सूक्त के मन्त्रों का सोते समय पाठ करना चाहिए जिससे इस मन में कभी भी सोते हुए, जागते हुए कुविचार न आएं और हम शुभ संकल्पों को धारण करते हुए निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहें।

प्रेम कुमार
संपादक एवं सभा महामन्त्री

श्रीमद्भगवत् गीता में निष्काम-कर्म

ले.-शिवनारायण उपाध्याय दादावाड़ी कोटा, (राजस्थान)

वैदिक संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान् सम्पूर्णानन्द का कहना है कि सम्पूर्ण श्रीमद्भगवत् गीता यजुर्वेद अध्याय 40 के मंत्र संख्या 2 का विस्तृत भाष्य है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषच्छतꣳ समाः।

एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

अर्थ-(इह) यहां (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्ष तक (जिजीविषते्) जीने की इच्छा करें (एवम्) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) कर्म (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता है। (इतः) इससे (अन्यथा) भिन्न दूसरा कोई और मार्ग (न) नहीं है। श्रीमद्भगवत् गीता का कहना है कि कोई भी प्राणी कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। कुछ कर्म तो स्वतः चलते ही रहते हैं।

न कर्मणा मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते।

न च सन्न यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।गीता 3.4।।

अर्थ-मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मतक्ता अनुभव करता है और न कर्मों के त्याग मात्र से सिद्धि को ही प्राप्त कर सकता है। कर्म योग में कर्म करना आवश्यक है क्योंकि निष्काम कर्म करने से कर्म योग की सिद्धि होती है।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यंकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृति जैर्गुणैः।।गीता 3.5।।

अर्थ-कोई भी मनुष्य किसी भी स्थिति में क्षणभर के लिए भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है क्योंकि प्रकृति के परवश हुए सब प्राणियों से प्रकृति जन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयस्य य आसते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। गीता 3.6।।

अर्थ-जो कर्मेन्द्रियों को हठ पूर्वक रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते हुए बैठता है वह मूढ़ बुद्धि वाला मनुष्य मिथ्या आचरण करने वाला पुरूष कहा जाता है। गीता में कर्मेन्द्रियों के अन्तर्गत ही ज्ञानेन्द्रियां भी मानी गई है।

यस्त्विन्द्रियाणी मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।गीता 3.7।।

अर्थ-परन्तु हे अर्जुन। जो व्यक्ति मन से इन्द्रियों पर नियंत्रण करके कर्म योग का आचरण करता है वही श्रेष्ठ है। वास्तव में मनुष्य को निष्काम भाव से कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्म योग का आचरण करना चाहिए।

कर्म न करना तो आलसियों का काम है।

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध येदकर्मणः।।3.8।।

अर्थ-मनुष्य के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपने लिए शास्त्र विधि के द्वारा नियत किये गए कर्त्तव्य कर्म अवश्य करे क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। साथ ही कर्म के न करने से तो मनुष्य अपने शरीर को भी ठीक से नहीं चला सकता है।

वास्तव में अपने लिए नियत कर्त्तव्य कर्म करना तो श्रेष्ठ है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट का तो कहना ही यह है कि कर्त्तव्य कर्म करना ही सबसे श्रेष्ठ है।

यज्ञ के लिए नियत कर्म करना भी व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

यथार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचर।।गीता 3.9।।

अर्थ-कर्त्तव्य पालन के लिए किये जाने वाले यज्ञ कर्मों से अन्यत्र कर्म में लगा हुआ यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बंधता है इसलिए, हे कौन्तये। तुम आसक्ति रहित होकर उस यज्ञ के लिए ही कर्त्तव्य कर्म कर। मनुष्य को कोई भी कर्म आसक्त होकर नहीं करना चाहिए, कर्म को सदैव फल की इच्छा न करते हुए कर्त्तव्य समझ कर ही करना चाहिए।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।गीता 3.10।।

अर्थ-प्रजापति ब्रह्मा जी ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही कर्त्तव्य कर्मों के विधान सहित प्रजा (मनुष्य आदि) की रचना करके उनसे प्रधानतया मनुष्यों से कहा कि तुम लोग इस कर्त्तव्य के द्वारा सबकी वृद्धि करो और यह कर्त्तव्य कर्म रूप यज्ञ तुम लोगों को कर्त्तव्य पालन की आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाला है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयाः परम वाप्स्यथ।।गीता 3.11।।

अर्थ-अपने कर्त्तव्य कर्म के द्वारा तुम लोग देवताओं को उन्नत करों। और वे देवता लोग तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

मनुष्य को कर्म केवल अपनी उन्नति के लिए ही नहीं करना चाहिए वरन् सबकी उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए और सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तोमुच्यते सर्वकिल्विषैः।

भुञ्जते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

गीता 3.13।।

अर्थ-यज्ञशेष का अनुभव करने वाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं परन्तु जो केवल अपने लिए ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं वे पापी लोग पाप का ही भक्षण करते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः।।गीता 3.14।।

अर्थ-सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है। वर्षा यज्ञ से होती है। यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है। इससे यज्ञ की महत्ता सिद्ध होती है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात् सर्व गतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।गीता 3.15।।

अर्थ-कर्मों को तू वेद से उत्पन्न जान। वेद को अक्षर ब्रह्म से प्रकट हुआ जान। इसलिए वह सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्त्तव्य कर्म) में नित्य स्थित है।

इन दो मंत्रों में यज्ञ कर्म की महत्ता बतायी गई है। क्योंकि यज्ञ से वर्षा होती है। उसमें अन्न उपजता है। अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। मनुष्य को सृष्टि की परम्परा के अनुकूल आचरण करना चाहिए।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।

अघांयुरिन्द्रियाशमो मोघं पार्थ स जीवति।।गीता 3.16।।

अर्थ-हे पार्थ। जो मनुष्य इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टि चक्र के अनुसार नहीं चलता वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला, पापमय जीवन व्यतीत करने वाला संसार में व्यर्थ ही जीवित रहता है।

हमें सृष्टि परम्परा के अनुकूल आचरण करना चाहिए।

सम्पूर्ण समाज का विकास करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

अब एक श्लोक और देकर कलम को विश्राम देगें।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरूषः।।गीता 3.19।।

अर्थ-इसलिए तुम निरन्तर आसक्ति रहित होकर कर्त्तव्य कर्म का भली-भांति आचरण कर क्योंकि आसक्ति रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

परोपकार

ले.-श्री नरेन्द्र आहूजा

महर्षि देव दयानन्द ने आर्य समाज के नियम निर्धारित करते समय ही 'संसार का उपकार करना ही आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है' लिखकर परोपकार के महत्व को स्पष्ट कर दिया था। इतना ही नहीं इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए देव दयानन्द ने आर्य समाज के नियमों में ही लिखा 'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए अपितु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' देव दयानन्द ने मानव मात्र के कल्याण की उद्दात भावना से कहा कि मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर समष्टिगत हितों के लिए अर्थात् परोपकार की भावना के साथ कार्य करना चाहिए। देव दयानन्द आर्योद्देश्यरत्नमाला में 'यज्ञ' को परिभाषित करते हुए इसका व्यापक यौगिक अर्थ देते हुए लिखते हैं ''अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त, वा जो शिल्प व्यवहार और जो पदार्थ विज्ञान है जो कि जगत के उपकार के लिए किया जाता है उसको यज्ञ कहते हैं''। यज्ञ की क्रान्तदर्शी देव दयानन्द द्वारा दी गई इस यौगिक परिभाषा के आधार पर हम बड़ी आसानी से कह सकते हैं कि 'परोपकार' यज्ञ का समानार्थक है तथा परोपकार का प्रत्येक कार्य यज्ञीय कार्यों की श्रेणी में ही आता है।

योगेश्वर कृष्ण भी गीता ज्ञान देते समय कर्म को विभाजित करते हुए निष्काम परोपकार के कार्यों को सर्वश्रेष्ठ कर्म की श्रेणी में रखते हैं। अर्थात् बिना किसी व्यक्तिगत कामना इच्छा वा स्वार्थ भाव के मनुष्य द्वारा किए गए परोपकार के कार्य सर्वश्रेष्ठ कार्य होते हैं। वैसे भी कर्म फल सिद्धांत के अन्तर्गत प्रत्येक प्राणी को अपने प्रत्येक कार्य का दंड या पुरस्कार न्यायकर्ता परमपिता परमेश्वर की न्यायव्यवस्था के अन्तर्गत अवश्य भुगतना पड़ता है। पाणिनी अष्टाध्यायी के सूत्र ''**स्वतंत्रः कर्ता**'' के अनुसार मनुष्य किसी कार्य को करने, न करने वा अन्यथा किसी अन्य प्रकार से करने के लिए स्वतंत्र होने के कारण कर्ता है और कर्ता होने के कारण स्वयं ही भोक्ता भी है। स्वतंत्र कर्ता एवं न्यायकारी ईश्वर की न्यायव्यवस्था में भोक्ता होने के कारण प्रत्येक मनुष्य के लिए अपेक्षित है कि वह जीवन में सदैव श्रेष्ठ कर्मों का संपादन करे जिसके फलस्वलरूप उसे उत्तम प्रारब्ध नियति या किस्मत मिले। ऐसे श्रेष्ठ कर्मो में देव दयानन्द द्वारा स्थापित नियमों तथा योगेश्वर कृष्ण द्वारा दिए गए गीता ज्ञान के आधार पर हम कह सकते हैं कि परोपकार के कार्य ही सर्वश्रेष्ठ कार्यों की श्रेणी में आते हैं। परोपकार ही सच्चा जीवन यज्ञ है। हमारे पूर्व में किए गए कर्म फलों का भोग ही तो हमारा प्रारब्ध या नियति है। कौन नहीं चाहता कि उसकी नियति (किस्मत) अच्छी हो तो यह उसके स्वयं के हाथों में सुरक्षित है क्योंकि कर्म फल मीमांसा के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपनी नियति का विधाता होता है। इसीलिए देव दयानन्द ने संसार के उपकार को आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य बताया है।

'परोपकार' को परिभाषित करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती स्पष्ट लिखते हैं ''अपने सब सामर्थ्य से दूसरे सब प्राणियों को सुख होने के लिए जो तन-मन-धन से प्रयत्न करता है वह परोपकार कहलाता है।'' यहाँ कई बार प्रश्न उठता है कि क्या किसी अपराधी की सहायता करना परोपकार की श्रेणी में आता है? तो इसका उत्तर भी वैदिक साहित्य में स्पष्ट है कि अपराधी की सहायता करना परोपकार की श्रेणी में नहीं आता अपितु दुराचार कहलाता है क्योंकि अपराधी को दंड देने के स्थान पर उसे समाज में दुराचार करने के लिए उसकी सहायता करते हुए स्वतंत्र रखना समाज को उसकी उद्दंडता अपराध का शिकार बनाना भी अपराध एवं दुराचार है न कि अपराधी के प्रति परोपकार। अपितु अपराधी को दंड देकर उसे सोचने के लिए विवश करते हुए उसे दुष्कर्म छोड़कर सद्कर्मों में प्रवृत्त करना परोपकार की श्रेणी में आता है क्योंकि अपराधी को दंड देकर हम समाज को उसके अपराधों से बचाकर तथा अपराधी को सुधारने के लिए विवश करके दोहरा परोपकार करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश में भी 'परोपकार' को परिभाषित करते हुए लिखते हैं ''जिससे मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार, सुख बढ़ें उसके करने को परोपकार कहते हैं''। अपराधी को दंड देना उसके दुराचार छूटने की श्रेणी में आने के कारण परोपकार कहलाता है। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लाह में देव दयानन्द परोपकार को मानव धर्म के रूप में स्वीकार करते हुए ''**धन्या नरा विहित कर्म परोपकाराः**'' लिखते हैं।

ऋग्वेद में परोपकार के लिए आदेश देते हुए लिखा है-''**यजध्वं हविषा तना गिरा**''। अर्थात् हे मनुष्यो तन मन और धन से यज्ञ अर्थात् परोपकार करो और अपना जीवन यज्ञमय बनाओ। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में '**स्वधया परिहिता**' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि ''अपने शुभ पदार्थों और गुणों के धारण के द्वारा मनुष्य को सब प्रकार से सबका हितकारक होना चाहिए।'' महर्षि दयानन्द के चिन्तन के अनुसार 'सत्य' और 'परोपकार' ही धर्म के मूलाधार हैं। वर्तमान में किए गए परोपकार के कार्य संस्कार रूप में संचित हो जाते हैं तथा भविष्य में ईश्वरीय न्याय व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिफल रूप में अच्छी नियति के रूप में प्राप्त होते हैं।

पृष्ठ 1 का शेष-ईश्वर का स्वरूप...

बनाकर खड़े कर दिये। आज सारा विश्व एक ही ईश्वर के विषय में अनेक सिद्धान्तों, मान्यताओं, विचारधाराओं में विभक्त होकर एक-दूसरे से अलग-थलग हो गया और विरोधी बनकर खड़ा हो गया है। जब तक सम्पूर्ण विश्व के मनुष्य एक ईश्वर को नहीं मानेंगे तब तक इस धरती पर मनुष्यों में परस्पर सुख, शान्ति, विश्वास, प्रेम, निर्भीकता और स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं होगी।

हे प्रभो! कृपा करके हम आस्तिकों के अन्तःकरण में ऐसी प्रेरणा प्रदान करो कि इस धरती पर रहने वाले मनुष्यों में आपके नाम के कारण जो परस्पर विभेद हो गया है, वह सर्वथा समाप्त हो जायें। सारे विश्व के लोग एक ही ईश्वर को मानने वाले बन जायें और धर्म, भक्ति, पूजा के नाम पर जो विरोध है वह समाप्त हो जाये और हम केवल एक ईश्वर की उपासना करने वाले बन जाये और यह पृथ्वी स्वर्गमयी बन जाये यही हमारी आपसे हार्दिक प्रार्थना है जिसे आप शीघ्र ही पूरा करेंगे। ऐसी हमें पूर्ण आशा और विश्वास हैं।

आर्य समाज आर्य नगर जालन्धर का 54वां वार्षिक महोत्सव 15 मई से

आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में आर्य समाज वेद मंदिर आर्य नगर जालन्धर का 54वां वार्षिक महोत्सव 15 मई से 21 मई 2023 तक सोत्साह पूर्वक आप सबके सहयोग से मनाया जा रहा है जिसमें आर्य समाज आर्य नगर के अलग-अलग परिवारों द्वारा अपने परिवार के साथ यजमान पद पर सुशोभित होकर यज्ञ में आहुतियाँ व वेद कथा का आयोजन करवाया जा रहा है। कार्यक्रम 15 मई से 20 मई तक सायं 7.00 बजे से 10.00 बजे रात्रि तक होगा जिसमें आर्य प्रतिनिधि सभा के सुविख्यात भजनोपदेशक श्री जगत वर्मा जी के भजन व सभा के ही महोपदशेक श्री विजय शास्त्री जी के वेदोपदेश सुनने का सुअवसर मिलेगा। प्रतिदिन रात को ऋषि भोज की भी व्यवस्था होगी। 21 मई 2023 को विशेष कार्यक्रम प्रातः 8.00 बजे से दोपहर 2.00 बजे तक होगा जिसकी अध्यक्षता दयानन्द मठ दीनानगर के अध्यक्ष स्वामी सदानन्द जी करेंगें। इस पावन अवसर आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सुदर्शन शर्मा जी, महामंत्री श्री प्रेम कुमार जी एवं अन्य पदाधिकारी भी सम्मिलित होंगे। सभी आर्य जनों से करबद्ध प्रार्थना है कि आप सभी इस पावन अवसर पर सपरिवार पधारने की कृपा करें एवं धर्म लाभ उठावें।

वेद आर्य
प्रधान आर्य समाज

यज्ञ का महत्त्व

ले.-श्री मास्टर मातुराम जी आर्य

जहाँ ईश्वर ने ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा सब पदार्थों का गुण-गुणी रूप से ज्ञान प्रदान किया, वहाँ यजुर्वेद के मन्त्रों से सब क्रियाएँ करनी प्रसिद्ध की हैं। जिसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य लोग ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का संग, सब शिल्प क्रियासहित विद्याओं की सिद्धि, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ गुण वा विद्या का दान, यथायोग्य उक्त विद्या के व्यवहार से सर्वोपकार के अनुकूल द्रव्यादि पदार्थों का खर्च करें। तो ऐसी अवस्था में मनुष्य मात्र को उचित है कि अपने जीवन काल में जहाँ परमात्मा से नित्य प्रति प्रार्थना · ÚÔÇ ¤ **''सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे''** (यजु० अ० १।१) अर्थ जगदीश अत्युत्तम कर्त्तव्य उपकारक कर्मों के लिये संयुक्त करें वहाँ-**''वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोसि विश्वधा असि। परमेण धाम्नादृꣳ हस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्''** (यजुः १।२) अर्थात् (वसोः) यज्ञ (पवित्रं) शुद्धि करने वाला (असि) तू है (द्यौः) प्रकाशदाता (असि) तू है। जो (पृथ्वी) फैलाने वाला (असि) तू है (मातरिश्वनः) वायु को (धर्मः) शुद्धकारी (असि) तू है (विश्वधाः) संसार को धारण करने वाला (असि) तू है (परमेण) उत्तम (धाम्ना) स्थान से (दृꣳ हस्व) सुखवर्धक है। ऐसे यज्ञ को (मा) मत (ह्वाः) तज (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञपालक-यजमान (मा) मत (ह्वार्षीत्) त्यागे। यह विधान है इसका पालन करें। यज्ञ में देवपूजा, संगतिकरण और दान-क्रिया करनी होती है।

(१) इस लोक तथा परलोक के लिये विद्या, ज्ञान तथा धर्म के सेवन से जो बड़े विद्वान् हैं, उनका सत्कार करना।

(२) पदार्थों के ज्ञान से शिल्प विद्या का प्रत्यक्ष करना।

(३) विद्वानों की नित्य, संगति, शुभ गुण, विद्या, सुख, धर्म और सत्य का नित्य दान करना।

(१) देवपूजा क्रिया-

देवपूजा क्रिया में जगत् रचयिता चेतन प्रभु की पूजा, यश गुण कीर्ति तथा चर्चा होती है। यथाः-

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत। तमिद्वर्धन्तु नो गिरः (ऋ० मंडल ८ सू० ९२ मन्त्र २१) अर्थ-(त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (चेतनं यज्ञं) उस चेतन सर्वपूज्य परमात्मा को (देवासः अत्नत) विद्वान प्राप्त करते हैं (तं इत् नः गिरः वर्धन्तु) उसी को हमारी वाणियाँ बढ़ाती, उसी का गुणगान करती हैं.

अरं कृण्वन्तु वेदि समग्निमिन्धतां पुरः। तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै

(ऋ० १।१७७।४)

अर्थ-(वेदिं) ज्ञान कराने वाली प्रजा-शिष्यजन-भूमि जहाँ सब पदार्थ प्राप्त होते हैं। (अरं कृण्वन्तु) को प्राप्त करें (अग्निम् पुरः सम् इन्धताम्) अग्नि-विद्वान् चेतन स्वरूप को अपने में प्रज्वलित योगाभ्यास द्वारा करें (तत्र) ऐसी अवस्था में (अमृतस्य) नित्य, शाश्वत जीव के (चेतनं यज्ञम्) ज्ञानप्रदाता परमोपास्य देव की उपासनारूपी यज्ञ द्वारा (तनवावहै) वृद्धि, प्रसार करें।

''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा'' (ऋ० १०।९०।१६) अर्थात्-(देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञेन) निज आत्मा को संयुक्त करने के द्वारा (यज्ञम्) सर्वोपास्य प्रभु को (अयजन्त) पूजते, उपासना करते हैं।

''आशुभिः अश्वेभिः यज्ञम्''

(ऋ० ८।१३।११)

अर्थ-कर्मकुशल पुरुष दृढ़ इन्द्रियों, मन, तथा शरीर के अंगों द्वारा (यज्ञम्) उपास्य प्रभु को प्राप्त हो।

स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हिष।

अग्निं तं वो दुवस्यतदाता यो वनिता मघम्''(ऋ० ३।१३।३)

अर्थ-जो तुम को ऐश्वर्य देता है, उस ज्ञानी नेता विद्वान् की सेवा करो। वह (विप्र) अनेक प्रकार से पूर्ण करता है। वह व्रतपालक तथा सत्संगों का नियामक होता है।

''ऋषिः श्रेष्ठ समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव'' ऋ० (३।२१।३) अर्थ-(श्रेष्ठः ऋषिः) तू सबसे उत्तम ज्ञानदर्शी विद्वान् (समिध्यसे) ज्ञान द्वारा चमक। और (यज्ञस्य) ज्ञान, दान तथा सत्संग का (प्र-अविता) भली प्रकार रक्षक (भव) हो।

(२) शिल्प-विद्या हस्त-क्रिया द्वारा यज्ञ (परोपकार):-

सुवाचा मिसाना यज्ञं मनुषो यजध्यै। प्रचोदयन्ता

विदथेषु कारु प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता।।

(यजुः २९।३१)

अर्थ-(सुवाचा) श्रेष्ठ सत्य वाणी द्वारा (मिमाना) आज्ञा करते हुए (यज्ञम्) पदार्थों का मेल (यजध्यै) करने को (मनुषः) जनता को (विदथेषु) अनेक विविध पदार्थ तथा रसायन विद्या विज्ञानों में (प्रचोदयन्ता) लगाता हुआ (प्रदिशा) प्रमाण से (प्राचीनं ज्योतिः) सनातन, ज्ञान प्रकाश का (दिशन्ता) बताने वाला (कारु) शिल्पी हो। अर्थात् उत्तम शिल्पकार शिल्प-विद्या की वृद्धि करें।

मन्द्रा कृणुध्वं धिया आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्। इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्च यज्ञं प्रणयता सखायः (ऋ० १०।१०१।२)

अर्थ-(सखायः) मित्रो, ख्याति वालो (मन्द्रा) आनन्ददायक कर्म (कृणुध्वम्) करो (धियः) उत्तम ज्ञान, कर्म (आ तनुध्वम्) फैलाओ (अरित्रपरणीं नावं) चप्पू वाली तारक नाव (कृणुध्वम्) बनाईये (आयुधा) शस्त्र अस्त्र (इष् कृणुध्वम्) खूब बनाओ (अरं कृणुध्वम्) पर्याप्त बनाओ। (यज्ञम्) इस शिल्प-क्रिया को (प्राञ्चंप्रनयत) संसारी ऐश्वर्य सुखार्थ प्रमुख रखो।

''स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्''

(ऋ० १०।१०१।७)

अर्थ-सुखपूर्वक उठा ले जाने वाला रथ बनाओ।

''आददानः निर्भूदु-खच्छित्समरन्त पर्व''।।

(ऋ० ४।१९।९)

अर्थ-(उखच्छित् पर्व) भेदछेदक फाड़ डालने वाले (पर्व) पोरु वाला अस्त्र (आददानः) लेकर (समरन्त)

(३) विद्या प्रचारः-

''एष ते यज्ञो यज्ञपते सह सूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा।।(यजुः ८।२२)

अर्थ-यज्ञपते (एषः) यह (ते) तेरा (यज्ञः) विद्या, ज्ञान (सूक्तवाकः) वेदवाणी के (सह) साथ (सर्ववीरः) सब प्रकार से अभय, निर्भीक पुरुष तू (जुषस्व) सेवन कर, ग्रहण कर।

''प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वचसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व''।।(यजुः ७।२७)

अर्थः-पठनपाठनरूप यज्ञ कर्म करने वाले आप मेरे प्राण वायु, शरीर में सर्वत्र रहने वाले व्यान वायु अन्न आदि के लिये पवित्रता से प्राप्त होवें। उदान पवन और पराक्रम के लिये ज्ञान देवें। मेरी वाणी तथा प्रगल्भता हित लगे रहे। इत्यादि। इसमें ''वर्चः''= विद्या बल को देने वाले को शिष्य सम्बोधन करता है।

''विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो देवाव्यो न यज्ञैः स्वप्नसः''।।

(ऋ० १०।७८।१)

विविध विद्याओं में निपुण स्वाध्यायशील मननयोग्य ज्ञानों से (विद्यादान) उत्तमकर्मी हों।

''यज्ञेन वाचः ''ऋषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते'' (ऋ० १०।७१।३) ऋषि=ज्ञानदर्शी जन वेदवाणी, प्रविष्ट हुई उस वाणी को प्राप्त करके अनेक स्थानों पर उपदेश करते हैं।

''यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षणमाणः। सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु'' (ऋ० ७।१०३।५)

अर्थः-जब एक विद्वान् शिक्षा पाकर दूसरे अधिक विद्वान् की सिखाई वाणी कहता है और जब शिष्य प्रजा में आप उपदेश करते हैं, तब इनका समस्त पर्व ज्ञान काण्ड समृद्ध ही हो जाता है।

ऐसे विद्वानों के ४ प्रकारों को वेद यूं बताता है:-

''गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम्। समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः'' (ऋ० ७।१०३।६)

अर्थ-इन विद्वानों में एक (गोमायुः) वेदवाणी को उत्तम रीति से प्रवचन करता, दूसरा (अजमायुः) अजन्मा आत्मा, परमात्मा संबन्धी, तीसरा (पृश्निः) प्रश्नोत्तर में कुशल, चौथा (हरितः) ज्ञानों का ग्रहीता होता है। यह सब ही एक समान ब्राह्मण होते हैं, परन्तु विविध ज्ञानों को धारते हैं। उपदेश करते हुए नाना प्रकार की वाणी को प्रकट करते हैं।

(शेष पृष्ठ ४ पर)

पृष्ठ 2 का शेष-वेद ही योग का मूल उद्गम

हाथों से कमाओ, हजार हाथ से दान करो।

२. नियम भी पांच हैं-

१. शौच-शौच का अर्थ पवित्रता। साधक अन्दर और बाहर से पवित्र रहे। राग-द्वेष के त्याग से आन्तरिक और जलादि के द्वारा बाह्य शुद्धि करनी चाहिए। शरीर की दशा का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, अतः शरीर को स्नानादि से पवित्र करना चाहिए। वेशभूषा व रहने का स्थान भी साफ-सुथरा हो। वेदानुकूल मनुस्मृति में कहा है-

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।
(मनुस्मृति ५/१०९)

अर्थात् जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्य आचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्म अनुष्ठान से आत्मा तथा ज्ञान अर्थात् विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है।

(२) सन्तोष-सन्तोष का अर्थ बहुत गलत समझा गया है। सन्तोष का अर्थ हाथ पर हाथ रखकर निठल्ला बैठना नहीं है। सन्तोष का अर्थ है-**आलस्य छोड़कर सदा पुरुषार्थ करना।** धर्मपूर्वक पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये। वेद के अनेक मन्त्रों के अन्त में स्वाहा पद आता है। जैसे यजुर्वेद ३२/१४ मन्त्र में **'मेधाविन कुरु स्वाहा'** आया है। **'स्वाहा'** पद का अर्थ निरुक्त के अनुसार **'स्वं प्राहेति'** बनता है। जिसका अर्थ स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में करते हैं कि जितना जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से पदार्थ प्राप्त हो, उतने ही में सदा संतोष करें। इससे स्वाहा शब्द के अर्थ में संतोष का मूल सन्देश विद्यमान है।

(३) तप-तप का वास्तविक अर्थ है-**द्वन्द्वसहनं तपः** 'कष्ट आने पर भी धर्मकार्यों को करते जाना **'तप'** है। हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुख, भूख-प्यास, हर्ष-शोक में सम रहने का नाम **'तप'** है। वेद में कहा है-**'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते।'** (ऋ० ९/८३/१) अर्थात् जिसने तप की भट्टी में अपने शरीर को तपाया नहीं है, ऐसा कच्चा व्यक्ति उस प्रभु को नहीं पा सकता।

४. स्वाध्याय-स्वाध्याय का अर्थ है वेद का अध्ययन-अध्यापन और ऋषिमुनियों द्वारा लिखित सत्यशास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना। वेद परमात्मा का दिव्यज्ञान है। यह मानव-कर्त्तव्यों का बोधक शास्त्र है। ज्ञान और विज्ञान का अगाध भण्डार है। अपने कर्तव्यों के ज्ञान हेतु वेद का स्वाध्याय करना ही चाहिए। स्वाध्याय का एक और अर्थ है, प्रतिदिन परमात्मा के सर्वोत्तम नाम 'ओ३म' का अर्थपूर्वक जप करना। वेद में कहा है-**'ओ३म् क्रतो स्मर।' (यजु० ४०/१५)** अर्थात् हे कर्मशील जीव! तू ओ३म् का स्मरण कर और **'ओ३म्प्रतिष्ठ'। (यजु० २/१३)** अर्थात् ओ३म् में प्रतिष्ठित हो जा अथवा 'ओ३म्' को= ओ३म् नामक परमात्मा को अपने हृदय मन्दिर में बैठा ले।

(४) ईश्वरप्रणिधान-ईश्वर प्रणिधान के दो अर्थ हैं-एक बिना किसी इच्छा, आकांक्षा और मांग के अपने आपको, अपने सब कामों को, अपने सब संकल्पों को प्रभु को समर्पित कर देना। जो परमात्मा से कुछ मांगते है, उन्हें तो प्रभु केवल वही वस्तु देता है, जो वे मांगते हैं। परन्तु जो मनुष्य कुछ भी नहीं माँगते, उन्हें परमेश्वर सब-कुछ देता है और अन्त में अपने आपको भी दे देता है, अर्थात् अपना साक्षात् भी करा देता है। दूसरा अर्थ है-हृदय में ईश्वर का प्रेम रखते हुए, एवं ईश्वर की विशेष भक्ति या उपासना करते हुए स्वयं अपने को ईश्वर की कृपा, दया और प्रसन्नता का पात्र बना लेना। इस विषय में वेद में कहा है-**'यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।' (अथर्व० १०/७/३९)**

अर्थात् देव लोग अपने हाथों, पैरों, श्रोत्र और चक्षु आदि की शक्तियों को तथा इनके द्वारा किये गये कर्मों तथा उपार्जनों को सम्पूर्ण रूप में महादेव के प्रति भेंट रूप में समर्पित कर देते हैं। यह उच्च कोटि का समर्पण ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

३. आसन-यह योग का तीसरा अंग है। शरीर न हिले, न डुले, न दुखे और चित्त में किसी प्रकार का उद्वेग न हो, ऐसी अवस्था में दीर्घकाल तक सुख से बैठने को 'आसन' कहते हैं। यजुर्वेद में कहा है **स्थिरो भव वीड्वंगः। (११/४४)**

४. प्राणायाम-यह योग का चौथा अंग है। प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ प्राण जाता है, वहाँ वहाँ मन भी जाता है। यदि प्राण वश में हो जाए तो मन बिना प्रयास के स्वयं वश में हो जाता है।

वेद में कहा है-

''युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि।। (ऋग्वेद १/६/१)

अर्थात् सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं।

५. प्रत्याहार-मन को एक लक्ष्य पर एकाग्र करने के लिए उसे बाह्य विषयों से समेटने का नाम प्रत्याहार है। बाह्य विषयों से हटने पर ही मन को लक्ष्य पर केन्द्रित किया जा सकता है। प्रत्याहार वह महान् कुंजी है जो धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारों को खोल देती है। ऋग्वेद ७/११/१ मंत्र में आया है **न ऋते त्वदमृता मादयन्ते।।** अर्थात् तेरे बिना मुक्त आत्मा आनन्दित नहीं होते। परमेश्वर में अवस्थित होकर जीवात्मा अपने आपको भूल जाता है और आनन्द में भरकर कह उठता है-**तू मैं और मैं तू है।** यह अवस्था बाह्य इन्द्रियों को समेटने की क्रिया के पश्चात् ही होती है।

६. धारणा-धारणा का अर्थ है मन को एक बिन्दु या एक स्थान पर एकाग्र करना, मन को किसी एक विषय पर केन्द्रित करना। वेद में कहा हैं

'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'
(यजुर्वेद ३४/१)

अर्थात् वेद जाग्रत ही नहीं, अपितु सुषुप्त अवस्था में भी मन को शुभ संकल्प वाला बनाने का सन्देश देता है। यह शुभ संकल्प केवल एकाग्र मन में ईश्वर द्वारा ही स्थापित हो सकता है।

७. ध्यान-धारणा की परिपक्वता का नाम ही 'ध्यान' है। धारणा में (प्रत्यय) ज्ञान का एक-सा बना रहना ही 'ध्यान' है। जिस स्थान पर चित्त को एकाग्र किया गया है उस एकाग्रता का ज्ञान तैलधारावत् निरन्तर एक सा बना रहे और उस समय अन्य किसी प्रकार का विचार चित्त में न आने पाए, ऐसी अवस्था को ही 'ध्यान' कहते हैं।

वेद कहता है-**''सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया।।''**
-(यजु० १२/६७)

अर्थात् जो विद्वान् योगी लोग और (धीरा) ध्यान करने वाले लोग हैं, वे यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि योग का उद्गम ईश्वरीय वाणी 'वेद' से ही हुआ है।

८. समाधि-निरन्तर अभ्यास और वैराग्य में सम्यक् अवस्थित होने से एकाग्रता बढ़ती है तथा अखण्ड क्रम से गतिमान् रहती है, फिर अन्ततः प्रगाढ़ ध्यान में निमग्न होने की अवस्था आती है, जो राज-योग की आठवीं अवस्था है। इसी को **'समाधि'** कहते हैं।

''अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्या हिण्ययः कोशः सवर्गो ज्योतिषावृतः।।-(अथर्व० १०/२/३१)

भावार्थ-आठ चक्रों वाली, नौ इन्द्रियाँ द्वारों वाली इस शरीररूप अयोध्या नामक देवनगरी में एक ज्योतिर्मय मनोमय कोश है, जो आह्लाद व प्रकाश से परिपूर्ण है। इसे हम रागद्वेष से मलिन न करें। इसी कोष में आत्मा विद्यमान। इसी हृदय कोष में आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है। वह मिलन समाधि अवस्था में ही होता है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि योग का उद्गम वेदों से है।

''महर्षि जी का पूरा जीवन सत्य पर आधारित था

ले.–खुशहाल चन्द्र आर्य

बरेली की सभा में गणमान्य लोग जैसे कलेक्टर, कमिश्नर उच्च अधिकारी सभी उपस्थित थे। ऋषि ने बड़ी निर्भीकता से व्याख्यान देते हुए कहा–लोग कहते हैं–सत्य को प्रकट न करो, सत्य कहने से कलेक्टर व कमिश्नर नाराज और अप्रसन्न होंगे, गवर्नर पीड़ा देगा। ऋषि दयानन्द ने उच्च स्वर से कहा, चाहे चक्रवर्ती राजा क्यों न नाराज हो, हम तो जैसा है, वैसा ही सत्य कहेंगे। चाहे लोग अंगुलियों को मोमबती बनाकर जलाएँ, चाहे मुझे तोप के मुख के सामने खड़ा कर दे फिर भी मेरी वाणी से सत्य ही निकलेगा। ऋषि ने जीवनभर गलत बातों, ढोंग, पाखण्ड, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि से समझौता नहीं किया। यदि किया होता तो वे उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े भगवान होते, उनका व्यक्तित्व, तो अद्वितीय गुणों तथा यौगिक सिद्धियों से परिपूर्ण था। मगर वे इतने महान् व निरहंकारी थे, सदा साधारण मानव बनकर ही पूरा जीवन निकाल दिया। आर्यजनों को ऋषि जी के प्रेरक जीवन से शिक्षा, प्रेरणा तथा सत्यपालन का व्रत लेना चाहिए। हम स्वार्थी, लोभी, पद आदि के लिए कदम-कदम पर सिद्धान्त विरूद्ध बातों से समझौता करने के लिए तैयार हो जाते हैं। असत्य बातों से आत्मा को मलीन कर लेते हैं।

ऋषिवर को ''सत्यमेय जयते नानृतम्'' सर्वदा सत्य की जय और असत्य की पराजय होती है, इस पर पूर्ण विश्वास एवं आस्था थी। सत्य के लिये उन्होंने जीवनभर विरोध, अपमान, सघर्ष और जहर पीया। सत्य के लिए अकेले लड़े तथा अकेले ही विजय प्राप्त की। वे महान् योगी, दार्शनिक, तपस्वी, त्यागी, सुधारक और भविष्य द्रष्टा थे। कभी भी अन्याय, अधर्म एवं असत्य के आगे नहीं झुके उनकी वाणी में अद्भुत शक्ति और प्रभाव था। वे सत्य के शोधक वक्ता, पालक, प्रचारक और अन्त में सत्य पर शहीद होने वाले निराले व विलक्षण महापुरूष थे। सचमुच ऋषिवर सत्य के देवदूत बनकर आये थे। वे आजीवन विषपायी रहे। हंस-हंस कर जहर पीते रहे, संसार की दुर्गति, अज्ञानता तथा मानव जाति के पतन पर रातों जागकर आँसू बहाते रहे। उनका सारा जीवन प्रेरणा तथा मार्गदर्शक रहा।

अमृतसर व्याख्यान में पत्थरों की वर्षा हुई। महर्षि हंसे और बोले–यह फूलों की वर्षा है। अपने विषदाता को यह कहकर मुक्त कर दिया–मैं दुनियाँ को कैद करने नहीं, उसे कैद से छुड़ाने आया हूँ। दुष्ट यदि अपनी दुष्टता नहीं छोडते है तो हम अपनी श्रेष्ठता क्यों छोड़े? महापुरूषों के जीवन की घटनाएँ, व्यवहार, तप, त्याग, बलिदान आदि संसार को प्रेरणा, चेतना, गति और जागरूकता देते हैं।

सदियों के बाद वह पुण्यात्मा संसार को जगाने आई थी। महर्षि दयानन्द जैसा क्रान्तिकारी, निष्काम, कर्मयोगी, देशभक्त, निर्भीक वक्ता, संसार को सत्य और शान्ति का सन्देश देने वाला दूसरा महापुरुष इस संसार में मिलना दुर्लभ है। दुर्भाग्य है कि महर्षि दयानन्द का संसार में जो मूल्यांकन, महत्व, सम्मान व स्थान होना चाहिये था, वह मिला नहीं। लोगों ने उस महायोगी को पहिचाना नहीं, उनके बताए मार्ग पर संसार नहीं चला। उनके सिद्धान्तों, विचारों, आदर्शों आदि पर अमल नहीं किया गया। यदि किया होता तो आज देश व दुनियाँ की यह दुर्गति, दुर्दशा, दुःख, दैन्य, भ्रष्टाचार, अनाचार आदि न देखने पड़ते। ऋषि जी के विचार, चिन्तन, सोच व आदर्श बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय की भावना से ओत-प्रोत था।

पृष्ठ 6 का शेष-यज्ञ का महत्त्व

ब्रह्मयज्ञः-अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः (मनुः अ० ३ श्लो० ७०) वेद पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है। इस का आधार-

''त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय''

-(ऋ० १०।१४१।६)

अर्थ-(अग्ने) हे ज्ञानवान् (अग्निभिः ज्ञान प्रकाश के करने वाले विद्वानों से (नः) हमारे (ब्रह्मयज्ञं) वेद, ज्ञानरूपी यज्ञ को (वर्धय) बढ़ा (त्वं) तू (नः) हमें (देवतातये) विद्वानों के हितार्थ (रायः दानाय) नाना धन ऐश्वर्य देने के लिये (चोदय) प्रेरित कर। **''इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि''** (ऋ० १०।१४०)। (२) अर्थात्-इस वेदवाणी की इच्छा, प्रेम करता हुआ इस स्वाध्यायरूपी यज्ञ को प्राप्त कर।

यहां पर कोई शंका कर सकता है कि ऋ१०।१४१।६ में ''अग्निभिः'' अग्नियों द्वारा ईश्वर का पूजन होता है, परन्तु अर्वाचीन आर्य ''विद्वानों से'' कैसे अर्थ करते हैं?

उत्तर-यहाँ पर अग्नि=ज्ञानवान् चेतन के अर्थ में ही सही है। क्योंकि वेद बतलाता है-अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुभना भव (१०।१४१।१) हे ज्ञानवान्! (इह) यहाँ पर (नः) हमें (अच्छा वेद) भली प्रकार उपदेश कर (प्रत्यङ् नः) हमारे सामने (सुमना भव) कल्याणकारी मन वाला हो। यदि जड़= ज्ञानरहित होता तो उपदेश करना और उत्तम मन वाला होना असंगत हो जाता है। इस ब्रह्मयज्ञ का दूसरा नाम ऋषियज्ञ भी है। ब्रह्मसूत्र भी है।

इसी में सन्ध्योपासना भी होती है। उपस्थान मन्त्र चार हैं, (यजुः ३५।१४; यजुः ३३।३१; यजुः ७।४२ और यजुः ३६।२४) जिनका हम नित्य प्रति प्रातः सायंकाल में ध्यान करते हैं। प्रथम मन्त्र में 'स्वः' के स्थान पर ऋ० १।५०।१० पर 'ज्योतिः' आता है। दूसरे मन्त्र के अन्त में ऋ० १।५०।१ में 'स्वाहा' जोड़ा हुआ है। अन्तिम मन्त्र में यदि ऋ० ७।६६।१६ की दृष्टि से देखा जावे तो 'शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्' इतना पाठ अधिक है।

अग्निहोत्र-यह यज्ञ अथर्व काण्ड १९ अनु० ७। मं० ३।४ के आधार पर प्रातः सायं दोनों कालों में यजु० अ० ३ मं० ९। १० में आये मन्त्र पढ़ २ कर सामग्री घृत से अग्नि में आहुतियाँ देकर किया जाता है। इस क्रिया का मुख्य उद्देश्य वृष्टि करना तथा जल वायु की शुद्धि करना और रोगों की निवृत्ति है। दोनों में ''ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा... ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा। ओं सर्वं वै पूर्ण ॐ स्वाहा'' पढ़कर भी आहुतियाँ दी जाती हैं।

इसी भौतिक यज्ञ द्वारा-**ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते... प्रीणन्ति तं नरो हितमव मेहन्ति पेरवः** (ऋ० ९।७४।४) अर्थात् (ऋतस्य नाभिः) अन्न का मूल आश्रय (अमृतं) जल (विजायते) विशेष रूप से उत्पन्न होता है... (नरः) जलग्राही किरण (तम् प्रीणन्ति) उस जल को वायु में तृप्त पूर्ण कर देते हैं (पेरवः) किरणें जलपान करते (हितम्) वायु में धरे (अव मेहन्ति) नीचे वर्षा रूप से गिराते हैं।

''दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्मुदियतिं भानुना। अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः...''

(ऋ० १०।७५।३)।

अर्थ-भूमि के ऊपर आकाश में मेघ व्यापते हैं, सूर्य प्रकाश द्वारा अनन्त बल=जल ऊपर उठता। मेघ से वृष्टियाँ बरसती हैं। अग्निमादित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे। उभे हि तेजसी संपद्यते उद्यन्तं वादित्यमग्निरनु समारोहति। तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे इति तित्तिरिश्रुतेः। 'अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्येति (का० ४।१५।११) सूर्यो बर्च इति ज्योतिः सूर्य इति वा प्रातरिति 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' समाना जूः प्रीतिः यस्यासौ सजूः। प्रातः सूर्य उच्यते।।

पाक्षिक यज्ञः-(१) अमावस वाला दर्श कहाता है। **'दर्शयागे त्रीणि हवींषि सन्ति'** (का० २।१।३)। इसमें तीन आहुतियाँ-ओं अग्नये स्वाहा। ओं इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा। ओं विष्णवे स्वाहा-डाली जाती हैं।

(२) पूर्णमासी का पौर्णमास कहाता है। इस याग में 'इन्द्रग्नीभ्यां स्वाहा' के स्थान पर 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' पढ़ कर आहुति दी जाती है।

ब्रह्मयज्ञ (वेदों का स्वाध्याय, सन्ध्योपासना) और अग्निहोत्र ये दोनों यज्ञ ब्रह्मचर्य आश्रम में आवश्यक हैं।

इन दोनों यज्ञों के साथ साथ गृहस्थी के लिये तीसरा पितृयज्ञ (जिसमें श्राद्ध तथा तर्पण), चौथा वैश्वदेव और पांचवां अतिथियज्ञ करना यथाशक्ति आवश्यक है। जीवित माता पिता आदियों की सेवा अन्न जल तथा फल से तृप्त करना श्राद्ध तर्पण करना पितृ यज्ञ है।

स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की तरफ से मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक प्रेम भारद्वाज द्वारा गायत्री प्रिंटिंग प्रैस, मण्डी रोड जालन्धर पंजाब से मुद्रित एवं गुरुदत्त भवन, चौक किशनपुरा, जालन्धर से प्रकाशित।
सम्पादक-प्रेम भारद्वाज
पीआरबी एक्ट के तहत प्रकाशित सामग्री के चयन हेतु उत्तरदायी किसी विवाद का न्यायिक क्षेत्र जालन्धर होगा। आर एन आई संख्या 26281/74 E-mail: apspunjab2010@gmail.com, www.aryapratinidhisabha.org